IOSR Journal Of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS)
Volume 23, Issue 8, Ver. 1 (August. 2018) PP 93-97
e-ISSN: 2279-0837, p-ISSN: 2279-0845.
www.iosrjournals.org

हिन्दी कथा साहित्य की विकास–यात्रा का प्रथम चरण

डॉ. चन्द्रशेखर रावल
ऐसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
सेठ पी.सी. बागला (पी.जी.) कॉलेज,हाथरस।

कथा कहने और सुनने की एक समृद्ध परम्परा हमारे लोक में प्रारम्भ से ही विद्यमान रही है। हमारा प्राचीन साहित्य भी कथाओं की इस समृद्ध परम्परा का वाहक रहा है। वेद, उपनिषद, आरण्यक, पुराण, ब्राह्मणग्रन्थ, महाभारत एवं रामायण इत्यादि संस्कृत ग्रंथों में इसके स्पष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्ध जातक एवं पंचतंत्र की कथाओं में इस परम्परा का अपेक्षाकृत परिष्कृत रूप प्राप्त होता है, जिसने सम्पूर्ण विश्व–साहित्य को प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– ''प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा–साहित्य का अभाव नहीं है। जातक और पंचतंत्र की कहानियों ने तो समूचे सभ्य जगत् को प्रभावित किया है।''[1] स्पष्ट है कि इस कथा–परम्परा से हिन्दी कथाओं को भी एक दृष्टि मिली है।

आधुनिक हिन्दी कथा–परम्परा के आरंभिक सूत्र खड़ी बोली की प्रारंभिक गद्य–रचनाओं में खोजे जा सकते हैं। इन रचनाओं में रामप्रसाद 'निरंजनी' कृत 'भाषायोगवशिष्ठ' मुंशी सदासुखलाल कृत 'सुखसागर', इंशाअल्ला खाँ कृत 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल कृत 'प्रेम सागर' एवं सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' इत्यादि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि आधुनिक अर्थों में जिसे हम कहानी या उपन्यास कहते हैं, उसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमने पश्चिम से ग्रहण किया है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी कथा–परम्परा वास्तविक अर्थों में प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों कथा–परम्पराओं के प्रभाव से ही निर्मित है।

आधुनिक हिन्दी कथा–परम्परा का वास्तविक रूप से आरंभ भारतेन्दु युग में आकर हुआ, क्योंकि इसी समय भारतीय कथाओं ने विदेशी कथा–परम्परा से मिलकर एक नया स्वरूप ग्रहण किया। जैसा कि हम कह चुके हैं आधुनिक अर्थो में जिसे हम 'कहानी' और 'उपन्यास' कहते हैं वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमने पश्चिम से ग्रहण किया है। कहना न होगा कि हिन्दी कथा–परम्परा वास्तविक अर्थों में इन्हीं दोनों विधाओं से निर्धारित होती है। ध्यातव्य है कि भारतेन्दु युग में आधुनिक ढंग (शुक्लजी ने जिन्हें अंगरेजी ढंग के कहा) के उपन्यासों के सृजन की प्रवृत्ति का सूत्रपात तो हो चुका था किन्तु कहानी के साथ ऐसा न हो सका। आधुनिक हिन्दी कहानी का आरंभ 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही सन् 1900 ई. से हुआ। 'सरस्वती' में छपने वाली आरम्भिक कहानियों में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (1900), 'गुलबहार' (1902), माधवराव सप्रे की 'एक टोकरीभर मिट्टी' (1901), गिरिजा कुमार घोष की 'प्रेम का फुहारा' (1901), मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1905), लक्ष्मीदत्त वाजपेयी की 'तीक्ष्ण छुरी' (1905) एवं बंग महिला (श्रीमती राजबाला घोष) की 'ढुलाई वाली' (1907) महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त 'सुदर्शन' नामक पत्रिका में छपने वाली माधव प्रसाद मिश्र की 'सब मिट्टी हो गया' (1900), 'मन की चंचलता' (1900), 'पुरोहित का आत्मत्याग' (1900) व 'विश्वास का फल' (1902) तथा बेग महिला की 'चन्द्रदेव से मेरी बात' (1904) भी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। यहाँ पर यह बताना भी आवश्यक है कि 'सब मिट्टी हो गया' एक प्रयोग मूलक कहानी है और इसी प्रयोग मूलक प्रवृत्ति के कारण आचार्य शुक्ल ने इसे कहानी की श्रेणी में नहीं रखा था। किंतु आज जबकि 'सब मिट्टी हो गया' की तरह की कहानियाँ लिखी जा रही हैं और कहानी में नए–नए प्रयोग हो रहे हैं– ऐसे में इस कहानी को 'कहानी' के रूप में देखा जाना ज़रूरी है।

हिन्दी में आधुनिक ढंग की पहली मौलिक कहानी को लेकर साहित्य–मनीषियों में काफी बहस हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'[2] में जिन छः कहानियों का उल्लेख हिन्दी की मौलिक कहानियों के रूप में किया है वे सभी 'सरस्वती' में छपी थीं, जो इस प्रकार हैं:–

1. इंदुमती (1900) : किशोरी लाल गोस्वामी
2. गुलबहार (1902) : किशोरी लाल गोस्वामी
3. प्लेग की चुड़ैल (1902) : मास्टर भगवानदास
4. ग्यारह वर्ष का समय (1903) : रामचन्द्र शुक्ल
5. पंडित और पंडितानी (1903) : गिरिजादत्त वाजपेयी

6. ढुलाई वाली (1907) : बंग महिला (श्रीमती राजबाला घोष)

इनमें आचार्य शुक्ल ने 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'ढुलाई वाली' को भाव–प्रधान कहानी माना है तथा साथ ही 'इन्दुमती' की मौलिकता पर संदेह व्यक्त किया है– ''यदि 'इंदुमती' बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'ढुलाई वाली' का नम्बर आता है।''[3] किंतु 'इंदुमती' पर शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के छायानुवाद की बात अब अज्ञात नहीं रह गई है।

कुछ विद्वानों ने आचार्य शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' और बंग महिला की 'ढुलाई वाली' तथा कुछ ने सन् 1915 ई० में प्रकाशित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' को पहली मौलिक कहानी माना है। इसमें 'ढुलाई वाली' को पहली आँचलिक कहानी कहा जा सकता है; क्योंकि इसमें क्षेत्रीय भाषा, परिवेश एवं क्षेत्रीय संस्कृति अपनी पूरी जीवन्तता के साथ उपस्थित है। 'उसने कहा था' निःसंदेह एक श्रेष्ठ कहानी है, किन्तु इसके पहले प्रकाशित होने वाली 'प्लेग की चुड़ैल' भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बड़े आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश विद्वानों की दृष्टि मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902) नामक कहानी पर नहीं गई। जबकि यह कहानी अपने कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर एक सशक्त रचना है। इसमें यथार्थ की पहचान सामंती एवं पुरोहिती संस्कृति के अत्याचारों के विरोध के रूप में हुई है। डॉ० भवदेव पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण बात लिखी है– "हिन्दी की यह पहली कहानी थी जो वस्तु और रूप दोनों में पूरी तरह मौलिक और पूरी तरह अनुभूत थी। इसने सन् 1901 में पहली बार इलाहाबाद–मिरज़ापुर में फैले प्लेग और उसके परिणामों की यथार्थवादी प्रस्तुति की और कहीं भी कहानी के ट्रीटमेण्ट को बिखरने नहीं दिया। बड़े आश्चर्यजनक ढंग से देखी हुई घटना को विवरण और रिपोर्ट के दायरे से निकालकर कहानी में इस कदर ढाला गया है कि वह अपने मूल उद्देश्य से कहीं भी कटने–टूटने नहीं पाई। मूल उद्देश्य था ब्रिटिश सत्ता, सामन्तवादी प्रवृत्ति और उपभोक्तावादी पुरोहिती संस्कृति के विरुद्ध आवाज़ उठाना, नारी को जबरन चुड़ैल बनाने और उसकी हत्या करने की अंधतावादी परम्पराओं को छिन्न–भिन्न करना तथा सामाजिक–पारिवारिक पूर्णता के लिए औरत के वजूद को कायम रखना।''[4] इस प्रकार 'प्लेग की चुड़ैल' को पहली मौलिक हिन्दी कहानी मानना अधिक तर्कसंगत लगता है। असल में आरंभिक हिन्दी कहानी अपने पहले दशक में कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर द्वंद्व करती दिखती है। यह द्वंद है– अनुवाद और मौलिकता का, अस्तित्व और प्रतिष्ठा का। ऐसे में इस दशक को हिन्दी कहानी का प्रयोगकाल कहा जा सकता है। बीसवीं सदी के आरंभिक दशक की कहानियों का महत्त्व इस बात में भी है कि उन्होंने पाठकों में साहित्यिक रुचि जगाने का एक उल्लेखनीय कार्य किया। साथ ही महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी कहानी के विकास के लिए किया गया संघर्ष भी महत्त्वपूर्ण है।

'सरस्वती' (सं. महावीर प्रसाद द्विवेदी), 'सुदर्शन' (सं. देवकी नन्दन खत्री एवं माधव प्रसाद मिश्र), 'इंदु' (सं. अम्बिकाप्रसाद गुप्त) एवं 'मनोरंजन' (सं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा) इत्यादि पत्रिकाओं के माध्यम से ही जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' एवं विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' जैसे रचनाकारों का कहानी के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। सन् 1911 एवं 1912 में प्रसाद जी की क्रमशः 'ग्राम' एवं 'रसिया बालम' नामक भावपूर्ण कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुईं तथा सन् 1912 में ही उनकी 'इंदु' में प्रकाशित कहानियों का पहला संग्रह 'छाया' नाम से निकला। सन् 1915 में 'सरस्वती' में पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' नामक कहानी छपी जो आधुनिक ढंग की श्रेष्ठ कहानी है। राजेन्द्र यादव की शब्दों में ''वातावरण की सजीवता, कहानी की लाक्षणिक भंगिमा, फ्लैश–बैक (या पूर्वदीप्ति) की यह शैली और कथ्य–शिल्प का यह संयम 'उसने कहा था' के बाद दसियों वर्ष अनछुए पड़े रहे और हिन्दी कहानी को उस धरातल के साथ अपने को जोड़ने के लिए लम्बी राह देखनी पड़ी।''[5] सन् 1915 में ही 'सौत' (सरस्वती) नामक कहानी के माध्यम से प्रेमचन्द का उर्दू से हिन्दी में आगमन हुआ। 1916 में 'सरस्वती' में ही उनकी 'पंचपरमेश्वर' नामक कहानी प्रकाशित हुई जो अपनी पूर्ववर्ती कहानियों से श्रेष्ठ थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि– ''इस कहानी में यथार्थोन्मुख आदर्श का ऐसा सुन्दर चित्रण था कि इसने उस समय लिखी जाने वाली कहानियों का रंग फीका कर दिया। महिमा में इस कहानी की प्रतिद्वंद्विता पहले की लिखी हुई सिर्फ एक कहानी– 'उसने कहा था'– कर सकती है।''[6] हिन्दी कहानियों के विकास में सन् 1911 से 1916 तक का समय बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि इसी समय हिन्दी कहानी की दो धाराएँ बनीं भावपरक और यथार्थपरक अथवा प्रसाद धारा और प्रेमचन्द धारा। प्रसाद जी ने भावपरक, अतीतोन्मुखी और व्यक्तिवादी कहानियाँ लिखीं तो प्रेमचन्द ने समाजपरक और यथार्थपरक। इन दोनों धाराओं की परम्परा वर्तमान युग में भी देखी जा सकती है।

कहानी की उपर्युक्त दो धाराओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक कहानी की एक अन्य धारा भी बनी। ऐतिहासिक कहानियों की इस धारा को जन्म दिया वृन्दावन लाल वर्मा ने– 'राखी बन्द भाई' (1909) एवं 'तातार और एक वीर राजपूत' (1910) नामक कहानियाँ लिखकर। ये दोनों कहानियाँ भी 'सरस्वती' में छपीं। फिर इस धारा को आगे बढ़ाया जयशंकर प्रसाद और चतुरसेन शास्त्री ने। इसी युग में कहानी के अनुवाद भी हुए। इस काल के अन्त तक आते–आते कहानी के अनुवाद के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात ये हुई कि दूसरी भाषाओं की कहानियों के जो छायानुवाद या

भावानुवाद बिना मूल कहानी के नामोल्लेख के हुआ करते थे, वे बन्द हो गए और अब ऐसी कहानियों के सीधे–सीधे अनुवाद नामोल्लेख के साथ प्रकाशित होने लगे। इनमें अधिकतर अनुवाद बंगला साहित्य से ही हुए और इन अनुवादों में बंग महिला (श्रीमती राजबाला घोष), लाला पार्वती नन्दन (गिरिजा कुमार घोष) एवं विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई। इन अनुवादों के माध्यम से कहानी के फलक का विस्तार हुआ और कहानी के प्रति एक नए दृष्टि–बोध का विकास हुआ।

आरंभिक कहानी के संदर्भ में जो महत्त्वपूर्ण बात और रह जाती है, वह है– महिला कहानीकारों की। कहानी–विकास के इस पक्ष को विद्वानों ने अनदेखा किया है, जिसे आज देखा जाना ज़रूरी है। बंग महिला को छोड़कर अन्य किसी महिला रचनाकार को महत्त्व ही नहीं दिया गया। जबकि 'बाबली बहू' नामक छद्मनामधारी किसी अज्ञात महिला की 'वीरांगना' (गृहलक्ष्मी, 1912), सरस्वती देवी की 'सच्ची सहेली' (गृहलक्ष्मी, 1912) एवं कु. राजवती सेठ की 'ईश्वर का अस्तित्व' (सरस्वती, 1912) इत्यादि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। यह सही है कि आरंभिक महिला रचनाकारों द्वारा लिखी गई अधिकांश कहानियाँ बुनावट के स्तर पर बहुत मज़बूत नहीं हैं किन्तु उनका कथ्य और उनमें उठाए गए पुरुषवादी सोच के विरुद्ध प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। यह प्रश्न निश्चित ही पुरुषवादी समाज की अविकसनशील प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के आरंभ की स्त्री–रचनाकारों की जो समस्याएँ थीं, वे समस्याएँ आज एक सदी बीत जाने के बाद भी अपने और अधिक विकृत एवं भयावह रूप में उपस्थित हैं। वर्तमान महिला रचनाकारों की केन्द्रीय समस्याएँ आज भी– नारी पराधीनता, नारी उत्पीड़न एवं बलात्कार इत्यादि के विरोध के रूप में घनीभूत हैं।

जैसा कि आरम्भ में कह चुके हैं, हिन्दी कथा–परम्परा 'कहानी' और 'उपन्यास' दोनों विधाओं से निर्धारित होती है। अतः कहानी के साथ–साथ उपन्यास के विकास क्रम को देखना भी आवश्यक हो जाता है। कहानी की तरह ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास किसे माना जाए? यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास को लेकर विद्वानों में काफी बहस हुई है। डॉ. गोपाल राय, पंडित गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) को पहला मौलिक हिन्दी उपन्यास मानते हैं, तो डॉ. विजयशंकर मल्ल, पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के 'भाग्यवती' (1887) नामक उपन्यास को। जबकि आचार्य शुक्ल एवं अधिकांश विद्वान लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (1882) को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास स्वीकारते हैं। आचार्य शुक्ल का स्पष्ट मानना है कि– ''अंगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले–पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।''[7] "भाग्यवती' को पहला हिन्दी उपन्यास मानने सम्बन्धी तर्कों में यह भी कहा जाता है कि इस उपन्यास की वास्तविक रचनावधि 1877 ई. है और यह कृति अपने दस वर्षों के उपरान्त 1887 ई. में प्रकाशित हो सकी। स्पष्ट है कि इस तर्क को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि पाठक–वर्ग के बीच तो रचना प्रकाशनोपरान्त ही स्थान बनाती है। वैसे भी 'भाग्यवती' मुख्यतः धर्मोपदेश की पुस्तक है, जिसकी भूमिका में पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी ने स्पष्ट लिखा है कि यह इसलिए लिखी है ताकि जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ–धर्म की शिक्षा प्राप्त हो सके। लेखक अपने इसी उद्देश्य के अन्तर्गत कथा का ताना–बाना बुनता है। कृति की नायिका के रूप में भाग्यवती नामक स्त्री है जो एक शिक्षित आदर्श भारतीय नारी के रूप में चित्रित है। वह अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, आडम्बरों, पाखण्डों तथा अंधविश्वासों के प्रति विद्रोही भाव रखती है। उसमें सेवाभावना कूट–कूट कर भरी है और अपने सद्व्यवहार एवं सेवाभाव से ही वह घर में सौहार्द स्थापित करने में सफल रहती है।

पं. गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) भी मुख्यतः स्त्री–शिक्षा और स्त्री–सुधार पर केन्द्रित रचना है। इसमें लेखक ने शिक्षित व अशिक्षित स्त्री द्वारा किए गए एक ही कार्य में आए अन्तर और गुणवत्ता के भेद को रेखांकित करते हुए यह संदेश देना चाहा है कि स्त्री–शिक्षा से ही स्त्री–सुधार संभव है, इसलिए स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होना अत्यन्त आवश्यक है। इस कहानी की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि यह कहानी नए रंग–ढंग से लिखी गई है। किन्तु कहानी को पढ़कर कहीं से भी ऐसा नहीं लगता कि इसमें कुछ नया है। चाहे इसे कथा के स्तर पर देखें या शिल्प के स्तर पर। इस सम्बन्ध में इसके सम्पादक डॉ. गोपालराय भी स्वीकार करते हैं कि इस रचना में उस जटिल वस्तु–विन्यास, नाटकीय शिल्प और मनोवैज्ञानिक तथा विश्वासोत्पादक चरित्र–चित्रण का अभाव है, जो उपन्यास के लिए आवश्यक माना जाता है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' हो अथवा 'भाग्यवती' यह तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि इनके कथा–शिल्प में नवीनता न भी हो, तब भी इन रचनाओं का महत्त्व उपन्यास लेखन की प्रेरक एवं आरंभिक कृतियों के रूप में बना रहेगा, जिन्होंने परवर्ती लेखकों के लिए उपन्यास लेखन का मार्ग प्रशस्त किया।

लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' (1882) नामक उपन्यास में समाज की वास्तविकताओं को पकड़ने का प्रयास मिलता है। कथ्य और उपन्यास की बुनावट में यह कृति निश्चित ही नवीन परिदृश्य उपस्थित करती है। इसमें दिल्ली के एक सम्पन्न मध्यवर्गीय परिवार के युवक मदन मोहन को कुसंगति एवं अंग्रेजी फैशनपरस्ती के कारण बिगड़ते और अपने एक शुभचिन्तक मित्र ब्रजकिशोर के सद्प्रयासों से सुधरते हुए दिखाया है। लेखक ब्रजकिशोर के रूप में भारतीय

नवजागरण के एक प्रतिनिधि चरित्र को प्रस्तुत करता है। उपन्यास में मदन मोहन नवशिक्षित मध्य वर्ग का प्रतीक है जिसमें मिथ्या अभिमान की भावना है, जबकि उसके पिता एक आदर्शवादी और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति हैं। लेखक ने पिता–पुत्र के इस चित्रण द्वारा दो पीढ़ियों के अन्तर को भी दिखाने का प्रयास किया है। इस उपन्यास की घटना और पात्र काल्पनिक हैं किन्तु समस्या यथार्थपरक है। कृतिकार ने पंडित पुरुषोत्तमदास की मूर्खता के बहाने पौंगा पंडितों और रूढ़ियों का उपहास किया है। इसमें लेखक ने लम्बे–लम्बे उपदेशपरक संवादों और उदाहरणों को छोड़कर क्रमबद्ध वृतान्त के रूप में पढ़ने का विकल्प भी पाठकों के समक्ष रखा है। अपनी तमाम अच्छाइयों के बावजूद इस उपन्यास को एकदम निर्दोष नहीं कहा जा सकता। रचना की भाषा में दिल्ली और उसके आस पास बोले जाने वाले शब्दों की प्रचुरता है। इस उपन्यास को वास्तविक अर्थों में साहित्यिक उपन्यास का पहला सफल प्रयोग कहा जा सकता है। 'परीक्षागुरु' को ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास मानकर 1982 ई. में हिन्दी उपन्यास की जन्मशती मनाई गई थी, जिसने परोक्ष रूप से आचार्य शुक्ल की मान्यता को ही पुष्ट किया है। इस प्रकार लाला श्रीनिवासवास के 'परीक्षागुरु' को ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास मानना समीचीन होगा। इस उपन्यास को आधुनिक हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक बिन्दु मानते हुए इसलिए भी संतोष होता है कि हिन्दी उपन्यास का आरम्भ सामाजिक यथार्थ की पहचान के साथ हुआ है।

आरंभिक कथा–साहित्य की प्रमुख और केन्द्रीय प्रवृत्तियाँ मनोरंजन तथा सामाजिक–सांस्कृतिक जागरण की थीं। इसलिए इस युग में सामाजिक एवं मनोरंजन–प्रधान उपन्यास अधिक लिखे गए। ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास मुख्य रूप से सुधारवादी अथवा उपदेश प्रधान थे। इस युग के सभी उपन्यासों में घटना या घटना चमत्कार की प्रवृत्ति की प्रधानता रही। चूँकि यह काल सांस्कृतिक जागरण का काल भी है, इसीलिए इस समय के उपन्यासों में राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक जागरण के स्वर भी सुनाई देते हैं।

इस युग के अन्य सामाजिक उपन्यासों में पं. बालकृष्ण भटट के 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) 'सौ अजान एक सुजान' (1892) ठाकुर जगनमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' (1888), राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' (1890), मेहता लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिक लाल' (1899) व 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899), अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' (1899) व 'अधखिला फूल' (1907) एवं ब्रजनंदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' (1912) इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें सांस्कृतिक जागरण का प्रभाव सामाजिक–धार्मिक रूढ़ियों के परित्याग, अंग्रेजी संस्कृति के अंधानुकरण के निषेध एवं आचरण की शुचिता पर बल के रूप में देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में व्यक्त सुधारवादी एवं उपदेशात्मक दृष्टिकोण निश्चित ही सांस्कृतिक जागरण से प्रेरित और परिचालित हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में भी अतीत की गौरवमयी बातों को पकड़कर वर्तमान को गौरवशाली बनाने की आकाँक्षा निहित है, जो विदेशी पराधीनता और तत्कालीन वर्तमान की दारुण स्थिति के बोध के फलस्वरूप संभव हो सकी। यह उच्चाकाँक्षा और स्थिति का बोध सांस्कृतिक जागरण का ही परिणाम था। इस दृष्टि से पं. किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी' (1902), 'कनक कुसुम वा मस्तानी' (1903), 'सुल्ताना रज़िया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), गंगा प्रसाद कृत 'नूरजहाँ' (1902), 'कुमार सिंह सेनापति' (1903), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली' (1900), 'पृथ्वीराज चौहान' (1902), बाबू ब्रजनन्दन सहाय कृत 'लालचीन' (1916) इत्यादि ऐतिहासिक उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं।

तिलस्मी–ऐय्यारी व जासूसी आदि मनोरंजन प्रधान उपन्यासों का वैचारिक आधार बहुत सुदृढ़ नहीं है, तथापि इस प्रकार के उपन्यास भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागरण की छाया से अछूते नहीं रह सके। इनमें भी राष्ट्रीय जागरण का स्वर मुखर हुआ है। इस तरह के उपन्यासों में प्रमुख चरित्र अथवा नायक नाना प्रकार के संकटों और कठिनाइयों से जूझता हुआ अंत में अपने उदेश्य (खजाना अथवा राज्य आदि) को प्राप्त करने में सफल होता है। प्रमुख चरित्र अथवा नायक का यह उदेश्य वस्तुतः स्वतन्त्रता ही है जिसकी खोज में वह सभी प्रकार के संकटों का सामना करते हुए अन्ततः सफल हो जाता है। नायक अथवा मुख्य चरित्र का अन्ततः सफल होना इस युग के उपन्यासकारों की आशावादी दृष्टि का द्योतक भी है। इस प्रकार के उपन्यासों में बाबू देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकांता' (1888), 'नरेन्द्र मोहिनी' (1893), 'वीरेन्द्रवीर' (1895), 'चन्द्रकान्ता संतति' (1896) व 'कुसुम कुमारी' (1899), हरेकृष्ण जौहर कृत 'कुसुमलता' (1899), 'भयानक भ्रम' (1900), 'मयंक मोहिनी या मायामहल' (1901), देवीप्रसाद उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (1893), किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'तिलस्मी शीश महल' (1905) एवं रामलाल वर्मा कृत 'पुतली महल' (1908) सरीखे तिलस्मी–ऐय्यारी उपन्यास तथा गोपालराम गहमरी कृत 'अद्‌भुत लाश' (1896), 'गुप्तचर' (1899), 'सर कटी लाश' (1900), 'चक्करदार चोरी' (1901), 'अद्‌भुत खून' (1902), 'इंद्रजालिक जासूस' (1910) व 'भोजपुर की ठगी' (1911) जैसे जासूसी उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनमें साम्राज्यवादी तत्त्व निहित हैं। प्रदीप सक्सेना ने तो 'चन्द्रकांता' को तिलस्मी रचना मानने के बजाय उसे यथार्थवादी रचना माना है– "चन्द्रकान्ता यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य है। वह तिलस्मी रचना नहीं है। वस्तुतः चन्द्रकान्ता दो युगों के उस संधि स्थल पर खड़ी है, जहाँ से एक युग ढह रहा है और दूसरा उभर रहा है। एक जा रहा है– दूसरा आ रहा है। तब फिर यह कृति दयनीय

महानता की नहीं– उस नई सुबह की पहली दास्तान है, जिसमें उस समय के भारत की अंगड़ाइयाँ सुरक्षित हैं।''[8] स्पष्ट है कि सक्सेना जी का इशारा सामंतवाद के पतन और समाज के नवोन्मेष की ओर है। उनका यह शोधपरक विचार सराहनीय हो सकता है, किन्तु यह सब रचना के मूल मंतव्य पर उनके विचारों का आरोपण ही अधिक लगता है। 'चन्द्रकान्ता' अथवा इस तरह के तिलस्मी–ऐय्यारी या जासूसी उपन्यासों में यथार्थवादी चिन्ता की बात छोड़ भी दें, तो भी इन उपन्यासों में व्यक्त तत्कालीन पाठक वर्ग के यथार्थ की चिन्ता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। "हिन्दी के प्रचार–प्रसार में जितना योग इन तिलस्मी उपन्यासों का है उतना अन्य किसी गद्य–विधा का नहीं।''[9] इसी तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हुए आचार्य शुक्ल ने बाबू देवकीनन्दन खत्री के सम्बन्ध में लिखा है– "... पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रन्थकार ने नहीं। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिन्दी सीखी।"[10] स्पष्ट है कि हिन्दी कथा–साहित्य के निर्माण में मनोरंजन–प्रधान उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार्य शुक्ल की बात को ही लगभग आगे बढ़ाते हुए गौतम सान्याल ने 'समकालीन हिन्दी कहानी में अनुपस्थिति' नामक लेख में लिखा है– "मेरी तो स्पष्ट मान्यता है कि प्रेमचन्द के पहले अगर देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी नहीं होते तो प्रेमचन्द उतने जनप्रिय नहीं हो सकते थे, जितना हुए। हिन्दी में बड़े गद्य को पढ़ने के अभ्यास का शिलान्यास प्रेमचन्द ने नहीं, देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी ने किया है।''[11] इसी क्रम में वे प्रेमचन्द पर खत्री जी और गहमरी जी के प्रभाव को रेखांकित करते हुए लिखते हैं– ''प्रेमचन्द के कथा–साहित्य में जो तत्क्षण और अकस्मात् का द्वंद्व है; पाठक–मन को ले उड़ने की जो झटके का हाइजैकिंग है, जो रोचकता के तत्त्व हैं, कथा कहने का जो कॉनफिडेन्स है, पाठकीय उत्सुकता को उकेरते रहने की, पाठक मन को बाँधने की जो तमीज़ है– इसमें देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी का सुनिश्चित योगदान है।''[12]

हिन्दी उपन्यासों की विकास–यात्रा के इस प्रथम चरण में उपन्यासों को प्रकाशित करने वाली पत्रिकाओं– 'उपन्यास लहरी' (सं. बाबू देवकीनन्दन खत्री), 'उपन्यास' (सं. किशोरीलाल गोस्वामी), एवं 'जासूस' (सं. गोपालराम गहमरी) आदि के योगदान के साथ–साथ उपन्यासों के दूसरी भाषाओं से अनुवाद की प्रवृत्ति का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस चरण में बंगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी तथा उर्दू के कई उपन्यास अनूदित हुए, किन्तु सर्वाधिक अनुवाद हुए– बंगला से। "इन अनुवादों के माध्यम से हिन्दी लेखकों का मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ और उन्होंने हिन्दी उपन्यास–साहित्य को अधिक यथार्थपरक, प्रेरणाप्रद और कलात्मक बनाने की चेष्टा की।''[13] इन अनुवादों में बाबू रामकृष्ण वर्मा, कार्तिक प्रसाद खत्री, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं गोपालराम गहमरी इत्यादि ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई। फिर भी इतना तो निश्चित है कि यह युग हिन्दी उपन्यास का शैशव काल है। इस युग के उपन्यासों में यथार्थ के ऊपरी पहलुओं को पकड़ने का प्रयास भर मिलता है। इसीलिए इस युग में सच्चे अर्थों में सामाजिक व ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रायः अभाव ही मिलता है।

इस प्रकार आरंभिक कथा साहित्य पर विचार करने पर ज्ञात होता कि उसमें आदर्शवादी–नैतिक दृष्टिकोण और मनोरंजन की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। हिन्दी कथा–साहित्य के इस काल में उपन्यास तो फिर भी अच्छी अवस्था में था, लेकिन कहानी की दशा सन्तोषजनक नहीं कहीं जा सकती। इस काल की अधिकांश कथा–रचनाओं में भाषा, कथ्य और शिल्प सभी स्तरों पर प्रौढ़ रचनात्मक कौशल का अभाव दिखाई देता है। वास्तव में इस कथा साहित्य का महत्व इस बात में अधिक है कि इसने हिन्दी कथा–लेखन को सुदृढ़ आधार–भूमि प्रदान की जिसके द्वारा प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा–साहित्य के एक नवीन युग का सूत्रपात किया।

संदर्भ :–

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृष्ठ संख्या–218
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या–275
3. वही, पृष्ठ संख्या–275
4. वर्तमान साहित्य (शताब्दी कथा–विशेषांक), 'हिन्दी कहानी सन् 1900 से 1915 तक'नामक लेख, पृष्ठ संख्या–56
5. कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृष्ठ संख्या–22
6. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृष्ठ संख्या–224
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या–249
8. आलोचना (जनवरी–मार्च, 1986) सं–नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या–53
9. हिन्दी का गद्य साहित्य – डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ संख्या–134
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृष्ठ संख्या–273
11. हंस (अर्द्धशती विशेषांकः खण्ड–1) पृष्ठ संख्या–130
12. वही, पृष्ठ संख्या–130
13. हिन्दी का गद्य साहित्य – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ संख्या–136